

इकाई 4 पूर्व राष्ट्रवादी प्रतिक्रियाएँ: राममोहन राय, बंकिम चन्द्र चटर्जी, दयानन्द सरस्वती और ज्योतिबा फुले

इकाई की रूपरेखा

- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 पूर्व राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया
- 4.3 राममोहन राय के विचार
- 4.4 राष्ट्रवाद के निर्माण में बंकिम चन्द्र चटर्जी के विचार
- 4.5 दयानन्द सरस्वती के धार्मिक-राजनीतिक विचार
- 4.6 ज्योतिबा फुले: एक सामाजिक क्रान्तिकारी
- 4.7 राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया: एक आलोचनात्मक मूल्यांकन
- 4.8 सारांश
- 4.9 अभ्यास प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

भारतीय राष्ट्रवाद के दो भिन्न-भिन्न चरण हैं। पहला चरण 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना तक चलता रहा है जबकि दूसरे चरण में राष्ट्रवाद अपने विभिन्न प्रकार की साम्राज्य विरोधी विचारधाराओं के इर्द-गिर्द लोकप्रिय लामबंदी के माध्यम से व्यक्त हुआ। सभी प्रतिस्पर्धी विचारधाराओं में गांधी की 'अवधारणा' भारत में साम्राज्य-विरोधी आन्दोलनों को संगठित करने में शायद सर्वाधिक लोकप्रिय विचारधारा थी। दूसरे चरण के विपरीत राष्ट्रीय लक्ष्य मुख्य रूप से राजनीतिक अर्थात् राज्य शक्ति हथियाना था। पहला चरण सुधार के उत्साह से बहुत अधिक प्रभावित था जिसके कारण विभिन्न प्रकार के व्यक्ति कमोबेश एक ही प्रकार के वैचारिक कार्यक्रम के साथ आए। ऐसी गतिविधियों में लोगों ने उनके उत्साह को बनाए रखने में निर्णायक भूमिका निभाई जो उनके चारों ओर एकत्र हुए थे। उन्हें जिससे प्रेरणा प्राप्त हुई, वह शायद यूरोपीय ज्ञान (शिक्षा) था जो उपनिवेशवाद के साथ भारत में आया। ज्ञान के दर्शन की वजह से न तो ब्रिटिश उपनिवेशवाद की भर्त्सना की गई और न ही भारत के सामाजिक-राजनीतिक मानचित्र पर पड़ने वाले इसके विनाशकारी प्रभाव का खुलासा करने के प्रयास किए गए। दूसरे शब्दों में, उपनिवेशवाद का स्वागत उसकी स्वीकृत भूमिका में किया गया क्योंकि मूल रूप से यह उन प्राचीन सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्थाओं को बदल रहा था जो सामंती व्यवस्था को बनाए रखे हुए थीं। यह तर्क देना संभव है कि ईस्ट इंडिया कम्पनी के तत्वावधान में पूर्व शासकों ने सामाजिक सुधारों की या तो ज्ञान के दर्शन में विश्वास के कारण अथवा भारतीय सामाजिक यथार्थ को उन मूल्यों से ओत-प्रोत करने की कार्य नीति के रूप में सामाजिक सुधारों की प्रशंसा की है। इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए, इस इकाई में ब्रिटिश शासन की उस प्रारंभिक राष्ट्रीय प्रतिक्रिया पर प्रकाश डाला गया है जिसकी पूर्व शासकों के सामाजिक-राजनीतिक स्वरूप की तुलना में बहुत अधिक प्रशंसा की गई। इस इकाई में न केवल सामाजिक उग्र चिंतकों द्वारा ब्रिटिश शासन के आलोचनारहित समर्थन को स्पष्ट करने के लिए तर्क प्रस्तुत किया जाएगा अपितु उपनिवेशवाद के बदलते स्वरूप पर भी प्रकाश डालने का प्रयास किया जाएगा जिसका स्पष्ट प्रभाव भारत में ब्रिटिश शासन की संकल्पना पर पड़ा। यही ब्रिटिश शासन बहुत जल्दी शोषण का पर्याय बन गया।

4.2 पूर्व राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया

विभिन्न चिंतकों का विस्तृत विश्लेषण करने से पहले, उन स्रोतों का पता लगाना उपयुक्त होगा जिनसे उन्होंने आरंभिक औपनिवेशिक शासन के संबंध में अपने विचार ग्रहण किए। जैसा कि पहले बताया गया है कि पहला जबरदस्त प्रभाव निश्चित रूप से ज्ञान दर्शन था जिसने 1832 के मैकाले के कार्यवृत्त (minutes) को प्रभावित किया। एक विशिष्ट पश्चिमी सांचे में भारतीय समाज को संगठित करने के लिए मैकाले ने भारतीय समाज के सामंतवादी आधार को मूल रूप से बदलने के लिए अंग्रेजी शिक्षा और ब्रिटिश न्यायशास्त्र को लागू करने का तर्क दिया। उसके विचारों का आशय यह था कि ब्रिटिश विविधता के उदार मूल्य भारत में आवश्यक सामाजिक रूपांतरण (transformation) में निश्चित रूप से योगदान करेंगे। अतः भारत में अंग्रेजों का आगमन छद्म रूप से एक वरदान सिद्ध हुआ। उपनिवेशवाद ने न केवल भारतीयों को पश्चिमी उदारवाद से परिचित कराया बल्कि इसने बेंथम, मिल, कारलाइल और कोलेरिज़ के सामाजिक और राजनीतिक रूप से प्रगतिशील विचारों से भी अवगत कराया जिन्होंने समकालीन प्रासंगिकता के मुद्दों पर विचार-विमर्श करने के गुणात्मक रूप से विभिन्न तरीकों की ओर ध्यान आकृष्ट किया। दूसरा समान रूप से महत्वपूर्ण प्रभाव जर्मन दार्शनिकों शिलिंग, फिशे, कैंट और हर्डर के विचार थे। इन विचारों को इसलिए आधार मिला क्योंकि ब्रिटिश शासन के विरुद्ध बौद्धिक चुनौती (intellectual challenge) को बल प्राप्त हुआ। वास्तव में बंकिम \$ लेखों में जर्मन विचारों की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। राममोहन राय जिनका ऐतिहासिक लक्ष्य सती प्रथा सहित अमानवीय रीति-रिवाजों में मौजूद बुराइयों को रोकना था जबकि उनके विपरीत बंकिम ने जर्मन दर्शन और हिन्दू दर्शन को आधार मानते हुए स्वतंत्रता के लक्ष्य का समर्थन किया। देखा जाए तो, समुदाय और राष्ट्र के विचारों द्वारा पूर्व (early) राष्ट्रवादी जिनमें बंकिम भी शामिल हैं, संभवतया प्रेरित प्रतीत होते हैं क्योंकि उन्होंने विदेशी शासन के मामले में मतभेद होने के बावजूद समानता का समर्थन किया। अतः पूर्व राष्ट्रवादियों का मूल उद्देश्य समान नहीं था; कुछ के लिए यूरोपीय ज्ञान के विचारों का लागू होना केवल इसलिए व्यर्थ था क्योंकि इसमें भारत की उस सभ्यता का मूल आधार नष्ट हो जाता जो पर्याप्त रूप से हिन्दुओं के अतीत पर आधारित था, जबकि कुछ दूसरों ने अंग्रेजी शासन और उसके स्पष्ट परिणामों के साथ-साथ अनुकूल रुख अपनाया। भारतीय राष्ट्रवाद के पहले चरण में तीसरा महत्वपूर्ण प्रभाव फ्रांसीसी क्रान्ति और स्वाधीनता (liberty), समानता और बंधुता (fraternity) का संदेश था। फ्रांसीसी क्रान्ति को प्रोत्साहित करने वाले विचारों से राममोहन राय को प्रेरणा प्राप्त हुई। उन्होंने अपने लेखों और कार्यों में जाति और धार्मिक विभाजनों के आधार पर भारत को विभाजित करने वाले प्राचीन सामाजिक रीति रिवाजों पर जबरदस्त प्रहार किया। पतनोन्मुख (गिरे हुए) सामंतवादी मूल्यों से मुक्त समाज की रचना करना उनकी प्राथमिकता थी जो स्वाधीनता, समानता और बंधुता के लक्ष्य को प्राप्त करने के मार्ग में बाधा बने हुए थे। वास्तव में परम्परागत भारतीय चिंतन का अंतिम स्रोत वह था जिसकी व्याख्या औपनिवेशिक शासन के संदर्भ में की गई। भारत की समृद्ध सांस्कृतिक परम्पराओं पर न केवल विलियम जोन्स और मैक्समूलर ने लिखा है, बल्कि नवजागरण चिंतकों (renaissance thinkers) जिनमें विवेकानंद भी शामिल हैं, का भी अत्यंत योगदान है, जिन्होंने भारत के अतीत को पुनः परिभाषित किया और भारत में मुस्लिम शासन के चरण का महत्व बहुत कम कर दिया। भगवद्गीता के संदेश से प्रेरित होकर, नवजागरण चिंतकों ने मातृभूमि की सेवा में कर्म के दर्शन का समर्थन किया। उन्होंने इस विचार को सिद्ध करने का प्रयास किया कि सफलताएँ अथवा असफलताएँ इतनी महत्वपूर्ण नहीं हैं जितना व्यक्ति के कर्तव्य का पालन महत्वपूर्ण है परन्तु इसके लिए 'उद्देश्य निर्मल' होने चाहिए। हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म में भाग्यवाद पर उनके द्वारा किया गया आक्रमण स्पष्ट रूप से बताता है कि वे मानव कर्म के परिणाम के बारे में सोचने-समझने में कितने यथार्थवादी थे। उनके अनुसार, कर्म के दर्शन में विश्वास रखते हुए व्यक्ति इस संसार में जीवन को बदल सकते हैं। अतः यह बिल्कुल भी

आश्चर्यजनक नहीं है कि विवेकानन्द और दयानन्द सरस्वती दोनों ने कर्म अथवा मानवता की सेवा पर बल दिया क्योंकि मानव के लिए अपने अस्तित्व को प्रमाणित करने का यही सर्वोत्तम तरीका है।

उपर्युक्त स्रोतों की चर्चा राममोहन राय, बंकिम चन्द्र चटर्जी, दयानन्द सरस्वती और ज्योतिबा फुले जैसे पूर्व राष्ट्रवादी चिंतकों के राष्ट्रवादी विचारों को रूप देने में बौद्धिक सूत्रों के महत्व को समझने के लिए अत्यंत उपयोगी है। यहाँ पर यह भी उल्लेख करना आवश्यक है कि गांधी युग की स्वतंत्रता की राजनीतिक अभिव्यक्ति एक दूर का लक्ष्य थी तब वे वैकल्पिक राष्ट्रवादी दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करते समय, पूर्व राष्ट्रवादी ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विशेष चरण की सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक मन्थन (political churning) की प्रक्रियाओं से प्रभावित हुए।

4.3 राममोहन राय के विचार

राममोहन राय एक उत्कृष्ट समाज सुधारक थे। रूढ़िवादी ब्राह्मणों में सती प्रथा को दूर करने में उनकी भूमिका ऐतिहासिक थी। ब्रह्म समाज की स्थापना करके, राय ने 'एक ईश्वर' की इस्लामिक धारणा में अपना विश्वास व्यक्त किया। उनके विचार में राजनीतिक सुधार से पहले सामाजिक सुधार किया जाना चाहिए क्योंकि सामाजिक सुधार ने ही राजनीतिक अर्थ में स्वाधीनता की नींव रखी। सामाजिक सुधार को अपनी प्राथमिकता के दृष्टिगत राय ने अपने राजनीतिक विचारों पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया। यद्यपि उन्होंने उपनिवेशवाद की उपेक्षा की, फिर भी प्रतीत होता है कि उन्होंने ब्रिटिश शासन का समर्थन किया। इसका कारण तत्कालीन सामंतवादी शक्तियों पर नियंत्रण करने में ब्रिटिश शासन की ऐतिहासिक भूमिका थी। ब्रिटिश शासन कम से कम न केवल तत्कालीन सामंतवादी शासकों से सांस्कृतिक रूप से श्रेष्ठ था, बल्कि समझा गया कि यह अपने मूल्य प्रदान करके एक अलग भारत बनाने में योगदान कर सकेगा। ब्रिटिश शासन के लिए उनकी प्रशंसा हिन्दुओं की परम्परागत मानसिक प्रवृत्ति को मूल रूप से बदलने में उसकी भूमिका में उनके विश्वास पर आधारित थी। उन्होंने यह भी कहा कि ब्रिटिश शासन के बने रहने से ऐसी लोकतांत्रिक संस्थाओं की स्थापना होने में सहायता मिलेगी जैसा कि ग्रेट ब्रिटेन में हैं। अन्य उदारवादियों की तरह, राय ने महसूस किया कि ब्रिटिश उदार मूल्यों को बिना किसी आलोचना के स्वीकार करना भारत में लोकतांत्रिक संस्थाओं की स्थापना करने का सबसे अच्छा संभावित साधन है। दूसरे शब्दों में उन्होंने ब्रिटिश शासन की 'एक छद्म वरदान' के रूप में इसलिए प्रशंसा की क्योंकि अंततः यह भारत में लोकतान्त्रिक शासन स्थापित करेगा। एक अन्य क्षेत्र भी था जिसके लिए राममोहन राय की भूमिका निर्णायक थी, वह प्रेस की स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति थी। अपने सहयोगी द्वारकानाथ टैगोर के साथ उन्होंने प्रेस की स्वतंत्रता के लिए एक प्रिवी काउंसिल (सर्वोच्च न्यायालय) को एक याचिका (petition) भेजी जिसे उन्होंने सरकार के लोकतान्त्रिक संचालन के लिए सही ठहराया। उनके विचार में प्रेस की स्वतंत्रता शिकायतों को व्यक्त करने का न केवल एक उपाय उपलब्ध करा सकेगी, बल्कि प्रशासन को कोई हानि पहुँचे, उससे पहले इससे उनकी शिकायतों के निवारण के लिए सरकार को कदम उठाने के योग्य बना सकेगी। उदार स्वरूप को देखते हुए इस संदर्भ में यह दो कारणों से महत्वपूर्ण कदम था: (क) भारत में प्रेस की सीमित स्वतंत्रता और भारत में स्वदेशी विशिष्ट वर्ग के बीच लोकतन्त्रीकरण की माँग एक महत्वपूर्ण घटना होगी और (ख) यदि प्रेस की स्वतंत्रता का विचार मंजूर हो जाता है तो यह जन क्षेत्र (public domain) में शिकायतों का पता लगाने के कारण औपनिवेशिक शासक के लिए 'एक उपाय' के रूप में काम करेगी।

राममोहन राय ने एक विशिष्ट ऐतिहासिक संदर्भ में प्रगतिशील भूमिका निभाई। अपनी ऐतिहासिक भूमिका पर विचार करते हुए उन्होंने तत्कालीन पूर्व सामंतवाद पर ब्रिटिश राष्ट्रवाद के अपने अनुभव का प्रयोग किया है। भारतीय समाज, राजनीति और अर्थव्यवस्था पर विदेशी शासन के स्पष्ट विनाशकारी प्रभाव का आकलन करते हुए, उन्होंने एक प्रशासनिक व्यवस्था को दूसरी प्रशासनिक व्यवस्था से

अच्छा माना। इसका कारण ब्रिटिश ज्ञान में उनका अटूट विश्वास था जो तत्कालीन भारतीय मस्तिष्कों को महत्वपूर्ण ढंग से परिवर्तित कर रहा था। किसी भी व्यक्ति के लिए यह मानना मुश्किल है कि उन्होंने भारतीय किसानों के विपरीत ब्रिटिश बागान मालिकों (काश्तकारों) की क्रूरताओं और निष्ठुरताओं के बावजूद उन्हें भारत में आने के लिए कहा। यदि ब्रिटिश साम्राज्य की आर्थिक क्षमता के आधार पर उसके बने रहने के उनके तर्क को कोई मानता है तो यह पूरी तरह सही था। राय का मत था कि जितने अधिक बागान मालिक 'संपत्ति' अर्जित करेंगे, भारत में उनका बने रहना और भी सुरक्षापूर्ण रहेगा। राय की ऐतिहासिक भूमिका के कारण यह तर्क देना गलत नहीं होगा कि राममोहन राय ने एक विशिष्ट सामाजिक-राजनीतिक इकाई के रूप में भारत की संवृद्धि के विशेष संदर्भ में अपनी भूमिका की ऐतिहासिक आवश्यकता के अनुसार अपने दायित्व का निर्वाह किया। अतः उनकी पहचान साम्राज्यवाद समर्थक चिंतक के रूप में करना ऐतिहासिक रूप से अनुचित होगा क्योंकि राष्ट्रवाद बाद के समय की विशेषताओं को प्राप्त नहीं कर पाया। अतः उनके विचार चाहे ब्रिटिश शासन का समर्थन करते हों अथवा पूर्व शासकों का, दोनों ही ऐतिहासिक रूप से अनुकूल और व्यवस्थित थे। उन्होंने अपनी ऐतिहासिक भूमिका हर संभव ढंग से प्रस्तुत की जो संबंधित काल की दुविधा और प्रारंभिक राष्ट्रवाद के सामाजिक और राजनीतिक विषाद में एक विकल्प खोजने की उनकी आकांक्षा को प्रदर्शित करती है।

4.4 राष्ट्रवाद के निर्माण में बंकिम चन्द्र चटर्जी के विचार

बंकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय (1838-94) राष्ट्रवाद की विचारधारा के भारत में संभवतया प्रथम प्रवर्तक (propounder) थे। स्वदेशी अर्थ में राष्ट्रवाद पर विचार करने में उन्होंने अदभुद् योगदान दिया है। मुस्लिम शासन के विपरीत, बंकिम ने *भगवद्गीता* पर बल देते हुए विचारधारा का विस्तार किया जिसका उन्नीसवीं शताब्दी में बांग्ला में व्यापक रूप से अनुवाद हुआ। *गीता* के अपने अनुवाद में बंकिम ने जो कुछ प्रदान किया, वह पश्चिमी ज्ञान की पुनर्व्याख्या थी ताकि ब्रिटिश शासन के विरोध में राष्ट्रवाद के नए उदय हुए संदर्भ में पश्चिम-शिक्षित बुद्धिजीवी वर्ग के लिए *गीता* को और अधिक पठनीय बनाया जा सके। इस प्रकार एक पूर्ण नई *गीता* का उदय हुआ जिसमें उन लोगों के सरोकार व्यक्त होते थे जो विदेशी शासनों के लिए एक राष्ट्रीय विकल्प प्रदान करना चाहते थे।

बंकिम के चिंतन में प्रमुख रूप जो कुछ विद्यमान था, वह राष्ट्रीय एकता का विचार था क्योंकि इस पर हिन्दू समाज का विकास आश्रित था। बंकिम का तर्क था कि राष्ट्रीय एकता पर तभी विचार किया जा सकता है जब व्यक्ति के दृष्टिकोण में दो प्रकार से परिवर्तन हो: प्रथम, यह धारणा कि प्रत्येक हिन्दू के लिए जो कुछ अच्छा है, वह मेरे लिए भी अच्छा है और मेरे विचार, विश्वास और कर्म हिन्दू समाज के अन्य सदस्यों के अनुरूप हों। दूसरे, प्रत्येक व्यक्ति की राष्ट्र और उसके हितों के प्रति सच्ची निष्ठा हो। यह वह विचार था जिसे बंकिम ने अपने उपन्यासों और अन्य लेखों में शामिल किया क्योंकि उनका विश्वास था कि राष्ट्र के लिए सुरक्षा और प्रेस के बिना व्यक्ति एक सामूहिक इकाई के रूप में जिसे राष्ट्र कहा जाता है अपने अस्तित्व को उचित नहीं ठहरा सकता। यहाँ पर एक सैद्धान्तिक बिन्दु की झलक मिलती है। विशेष उदारवादियों के विपरीत, वे समुदाय (समाज) के पक्ष में थे और उनके अनुसार व्यक्ति की भूमिका को तभी सही माना जाता है जब वह समाज के लिए सही हो। उन्होंने माना कि अंग्रेजों के साथ संपर्क ने हिन्दू समाज को उसकी शारीरिक क्षमता संबंधी उसकी कमजोरी को जानने के योग्य नहीं बनाया बल्कि उन्होंने 'संस्कृति' के संदर्भ में जानने की बात कही। हिन्दुओं में संस्कृति की इसलिए कमी थी क्योंकि वे बहुत अधिक विविधता, भाषा, मूलवंश (race) और धर्म आदि के कारण अलग-अलग थे और जब तक हिन्दुओं की इस विभाजनकारी प्रवृत्ति को पूरी तरह समाप्त नहीं कर दिया जाता तब तक उनके लिए राष्ट्रीय एकता की स्थितियाँ पैदा करना असंभव होगा।

राष्ट्रीय एकता की धारणा से, अब बंकिम ने *अनुशीलन* की जाँच की। 1888 में अपनी इस धारणा की व्याख्या करते हुए, उन्होंने अपने एक निबंध, जिसका शीर्षक 'धर्म का सिद्धान्त' (Theory of Religion) था, में इसे 'संस्कृति की व्यवस्था' बताया जो काम्प्टे और मैथ्यू आरनोल्ड जैसे पश्चिमी चिंतकों द्वारा व्यक्त संस्कृति की पश्चिमी अवधारणा की अपेक्षा अधिक पूर्ण और सही थी। पश्चिम के अज्ञेय व्यवहार संबंधी विचार (agnostic Western view of practice) के विपरीत, अनुशीलन भक्ति (devotion) पर आधारित था जिसमें 'ज्ञान और कर्तव्य' शामिल थे। व्यवहारिक रूप से अनुशीलन का अर्थ है इस प्रकार का ज्ञान जो समाज (समुदाय) के लिए ठीक होता है और समुदाय विशेष परिस्थितियों में कार्य करता है। अनुशीलन का अर्थ उस कर्तव्य से है जिसके करने पर फल (पुरस्कार) की आशा नहीं की जाती है। दूसरे शब्दों में समुदाय अपनी इच्छा के अनुसार कुछ कार्य करने के लिए कर्तव्यबद्ध नहीं है बल्कि निष्ठा अथवा भक्ति के कारण व्यक्ति कार्य करता है अथवा लक्ष्य प्राप्त करता है। इससे उन्होंने राष्ट्र के प्रति कर्तव्य का विचार ग्रहण किया। उनका कहना था कि समुदाय को उस 'राष्ट्र की रक्षा' के लिए कार्य करना है जो विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण पूरी तरह अपंग हो गया था। बंकिम के लिए भक्ति की इस निस्वार्थ अवधारणा ने धर्म की आधारशिला रखी।

राष्ट्रीय एकता में धर्म के महत्व पर बल देते हुए, बंकिम ने हिन्दू समुदाय के लिए एक अलग पहचान हेतु परिस्थितियाँ सृजित करनी चाहीं। यह न केवल पराधीन राष्ट्र में जरूरी था, बल्कि पश्चिम की नकल किए बिना अपनी सहज सांस्कृतिक क्षमता के आधार पर एक मज़बूत समुदाय की रचना करने के लिए भी सर्वाधिक उपर्युक्त था। यह पश्चिमी विज्ञान और उद्योग के क्षेत्रों में श्रेष्ठ होने का प्रतिनिधित्व करता था जो पूर्व पर विजय प्राप्त करने में सफल हो गया था। अतः उन्होंने भौतिक संस्कृति के क्षेत्र में पश्चिम का अनुसरण करने पर बल दिया। परन्तु आध्यात्मिक संस्कृति के क्षेत्र में पूर्व, निश्चित रूप से पश्चिम से श्रेष्ठ था जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। इन दोनों विचारधाराओं को मिलाकर, बंकिम ने सुझाव दिया कि पूर्व की श्रेष्ठ आध्यात्मिक विशिष्टता को आत्मसात् करके पश्चिम इसका अनुकरण कर सकता है। अतः राष्ट्रीय पहचान के निर्माण में बंकिम पूरी तरह से विदेशी नहीं बल्कि पूर्व राष्ट्रवादी आन्दोलन के एक विचार - विज्ञानी प्रतीत होते हैं जिन्होंने पूर्व और पश्चिम की क्षमता और कमजोरी का एक साथ मूल्यांकन किया। दूसरे शब्दों में, बंकिम की अंतर को खोजने वाले कार्य योजना (difference seeking project) में वह सब है जिसे चटर्जी ने हमारे राष्ट्रीय चिंतन में 'विचलन का क्षण' (the moment of departure) कहा है।

4.5 दयानन्द सरस्वती के धार्मिक - राजनीतिक विचार

राष्ट्र में एकता की कमी थी। बंकिम का राष्ट्र के लिए एक स्पष्ट राजनीतिक संदेश था। **दयानन्द सरस्वती (1825-83)** जिन्होंने आर्य समाज की स्थापना की थी, के विचार राजा राममोहन राय के विचारों के समान ही थे। प्रमुख रूप से वह समाज सुधारक थे। उनका विश्वास था कि हिन्दू समाज को अधीन करने में अंग्रेजों की सफलता बहुत कुछ उसके विभाजक स्वरूप और अपनी शक्ति को न पहचानने के कारण थी। राममोहन राय ने उपनिषदों और बंकिम ने *गीता* पर बल दिया जबकि दयानन्द सरस्वती ने अपनी राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया को व्यक्त करते हुए वेदों से प्रेरणा प्राप्त की। दयानन्द सरस्वती में दूसरी विरोधाभासी बात जो उन्हें दूसरों से अलग करती थी, वह यूरोपीय संस्कृति और चिंतन का उनपर बिल्कुल भी प्रभाव न होना था। तदनुसार यूरोपीय ज्ञान और उनकी प्रतिक्रिया व्यक्त हुई। बंकिम के राष्ट्रीय एकता के विचार में प्रत्यक्षवादी और व्यवहारवादी दर्शन का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता था। इनके विपरीत, दयानन्द सरस्वती ने अनेक बुराइयों से ग्रस्त मरणासन्न राष्ट्र को प्रेरित करने के लिए वैदिक संदेशों को सर्वाधिक उपयुक्त पाया। इन बुराइयों को आसानी से दूर किया जा सकता था। एक मज़बूत हिन्दू समाज का निर्माण चाहते हुए, दयानन्द सरस्वती अन्य पूर्व राष्ट्रवादियों से दो प्रकार से

बिल्कुल अलग थे: उनकी प्रतिक्रिया मूल रूप से इस विचार पर आधारित थी जो स्वाभाविक रूप बिल्कुल स्वदेशी है क्योंकि दयानन्द सरस्वती पश्चिमी विचारों से प्रभावित नहीं थे। अतः अपने दृष्टिकोण में बिल्कुल अलग होते हुए, उन्होंने एक ऐसी भाषा में उस इतिहास की प्रक्रियाओं के बारे में जानना चाहा था जिसने पूर्व राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया में एक नया आयाम जोड़ा। दूसरे, दयानन्द सरस्वती की प्रतिक्रिया परम्परागत धर्मग्रंथों, विशेषकर वेदों के साथ एक सृजनात्मक संवाद की शाखा थी जिससे प्रतीत होता है कि भारत की प्रमुख सभ्यता की विशेषताओं के प्रति बाद में अपने आग्रह के लिए उन्होंने उग्रवादी नेतृत्व (extremist leadership) को प्रभावित किया। दूसरों के विपरीत, जो पश्चिमी उदार विचारों के प्रति आकृष्ट थे, शायद दयानन्द सरस्वती ही अपनी पीढ़ी के एकमात्र विचारक थे जिन्होंने अनेक कारणों से विभाजित राष्ट्र को प्रेरित करने में प्राचीन धर्मग्रंथों के प्रासंगिक महत्व पर बहस शुरू की थी।

1875 में प्रकाशित दयानन्द सरस्वती की पुस्तक *सत्यार्थ प्रकाश* में दो विचार स्पष्ट दिखाई देते हैं। पहला, एक सक्रिय सृजनकर्ता के रूप में ईश्वर के विचार ने उन्हें सर्वाधिक प्रभावित किया प्रतीत होता है। उनका मानना था कि अनुभवजन्य संसार कोई भ्रम नहीं है बल्कि इसमें एक स्वतंत्र और उद्देश्यपूर्ण अस्तित्व है। राममोहन राय और विवेकानंद के अद्वैत और *निर्गुण ब्रह्म* के खंडन ने उन्हें बंकिम और रामकृष्ण से अलग किया तथा *साकार* और *अवतार* के निषेध ने उन्हें बंकिम और रामकृष्ण से पृथक् किया। इस आधार पर, उन्होंने आगे कहा कि मानव कर्म ईश्वर द्वारा दंड और पुरस्कार का सूचक है। ईश्वर के नाम में व्यवहार के कुछ सुपरिभाषित मानकों के अनुसार व्यक्ति के कार्यों (कर्मों) का मूल्यांकन करने के लिए दयानन्द सरस्वती द्वारा एक सैद्धान्तिक प्रयास किया गया था। अरविंद ने भी अपने दावे में एक स्पष्ट और तर्कयुक्त सैद्धान्तिक कथन (theoretical statement) पाया जो न केवल इतिहास के महत्वपूर्ण समय में मानव व्यवहार का विश्लेषण करता था बल्कि ईश्वर द्वारा प्रदान किए जाने वाले लक्ष्य के लिए पराजित राष्ट्र को एकजुट कर सकता था। दूसरे शब्दों में, रचनात्मक ढंग से ईश्वर की फिर से परिभाषा करके, दयानन्द सरस्वती ने वास्तव में प्रेम के ईश्वरीय नव विधान के बजाए ईश्वरीय न्याय के पूर्व विधान (Old Testament God of Justice) को व्यक्त किया। मानव कर्म की रचना करने में भाग्य (ईश्वर) के महत्व पर बल देकर, आर्य समाज संस्थापक (दयानन्द सरस्वती) संभवतया सार्थक सामाजिक कार्यकलापों के लिए धार्मिक भावनाओं का लाभ उठाने का प्रयास कर रहे थे। उनके विचारों में यह राष्ट्र के विकास और समृद्धि के लिए एक बुनियादी आवश्यकता थी।

दूसरा महत्वपूर्ण विचार जो *सत्यार्थ प्रकाश* से निकला है वह वास्तव में हिन्दू समाज के विभाजक स्वरूप पर टिप्पणी है। उनके अनुसार भारत में ब्रिटिश वायसराय की मौजूदगी का बहुत बड़ा कारण 'हमारी अपनी विफलताएँ' थीं। जैसा कि उन्होंने कहा था, ऐसा तभी होता है जब भाई-भाई आपस में लड़ते हैं तो बाहरी व्यक्ति (विदेशी) पंच बन जाता है। इसके अतिरिक्त, हिन्दू समाज स्वाभाविक रूप से बाल विवाह और भौतिक सुख जैसी प्रथाओं के कारण अपंग बना हुआ था जोकि वेदों और सिद्धान्तों की बिल्कुल अवहेलना था। उनके अनुसार, हमारे समाज को जिन्होंने अपूरणीय क्षति पहुँचाई, वह 'असत्य और वेदों की अवहेलना' थी। अतः सबसे पहला कार्य था वेदों का अर्थ समझना जिसमें हिन्दुओं को एक मूलवंश (race) के रूप में बिल्कुल अलग बताया गया था। उनका मानना था कि अंग्रेजों पर कोई भी प्रहार तब तक सफल नहीं होगा जब तक यह कार्य पूरा नहीं हो जाता। शायद यही कारण था कि आर्य समाज अंग्रेजों के विरुद्ध प्रत्यक्ष राजनीतिक अभियान में भाग नहीं ले पाया।

इन अद्भुत विचारों को हिन्दू धर्मग्रंथों में स्थान दिया गया। यहाँ दयानन्द सरस्वती की ऐतिहासिक और महत्वपूर्ण भूमिका दिखाई देती है जिन्होंने मुख्यरूप से हिन्दुओं में पहचान की भावना पैदा करने के लिए वेदों का सहारा लिया। हिन्दू अब तक बहुत अधिक विभाजित थे और विदेशी शासन का विरोध करने में असमर्थ थे। दूसरे शब्दों में वे 'शुद्ध' हिन्दू धर्म खोजने के लिए वेदों की ओर मुड़े ताकि इनकी

सहायता से वर्तमान में हिन्दू धर्म के भ्रष्टाचार से मुकाबला किया जा सके। उन्होंने महसूस किया कि वेदों में हिन्दुओं की सर्वाधिक प्राचीन और शुद्ध रूप में हिन्दुओं के विश्वास शामिल हैं जिनमें ईश्वर को न्यायपूर्ण और असीम सृजक (रचनाकार) बताया गया है। उन्होंने हिन्दुओं की विकृत प्रथाओं को मिटाने के लिए आह्वान किया। उन्होंने इस मौजूदा विभाजक जाति-व्यवस्था की आलोचना की जिसके कारण वैदिक प्रथाएँ विकृत हो गई थीं क्योंकि वैदिक समाज का सामाजिक सोपानक्रम व्यक्ति के जन्म की अपेक्षा उसकी योग्यता, क्षमता और स्वभाव पर आधारित था।

इस प्रकार, ईश्वर को सर्जक बताते हुए, उन्होंने साहस और उत्साह खो चुके मरणासन्न राष्ट्र का कायाकल्प करने के लिए ईश्वर की वैदिक अवधारणा को उद्देश्यपूर्ण ढंग से फिर से परिभाषित किया। अच्छे और बुरे 'कार्यों' के लिए क्रमशः पुरस्कार और दंड को आवश्यक मानते हुए दयानन्द सरस्वती ने हिन्दू समाज की प्रगति में बाधा पहुँचाने वाली 'बुराइयों' को दूर करना चाहा। वास्तव में दयानन्द सरस्वती का प्राथमिक कार्य हिन्दू समाज के नैतिक आधार को मजबूत करना था जिसकी स्वाभाविक दुर्बलता के कारण यह बुरी तरह बंटा रहा। राममोहन राय की तरह, दयानन्द सरस्वती भी एक समाज सुधारक थे जिनकी राजनीति में कोई रुचि नहीं थी और उन्होंने बिल्कुल गैर-राजनीतिक ढंग से आर्य समाज की भूमिका का उल्लेख किया। कारण बिल्कुल स्पष्ट हैं। एक मजबूत औपनिवेशिक शासन के संदर्भ में आर्य समाज की स्पष्ट और प्रदर्शित भूमिका ने निश्चय ही सरकार का ध्यान आकर्षित किया होता जो कि संभव नहीं था क्योंकि यह संगठन तब अपनी प्रारंभिक अवस्था में था। राजनीति से दूर रहने का निर्णय करके दयानन्द सरस्वती ने न केवल ऐतिहासिक भूमिका की पूर्ति की बल्कि हिन्दू परंपराओं के साथ-साथ ब्राह्मणों के प्रभाव की आलोचना की और उन्होंने हिन्दू धर्म के उत्पीड़क स्वरूप की ओर संकेत किया जिसने अपने वर्तमान रूप में शूद्रों पर अपना वैचारिक प्रभुत्व थोपा और शुद्धिकरण के अनेक अनुष्ठान बताकर, अछूतों की भौतिक (शारीरिक) दरिद्रता (कमजोरी) को बढ़ाया। दूसरे, लालची ब्राह्मण के चंगुल से दंपति को बचाने वाले ईसाई मिशनरी का उल्लेख करके प्रतीत होता है कि फुले ने धर्म परिवर्तन की संभावना संभवतया शोषणकारी हिन्दू धर्म से छुटकारा पाने का एकमात्र व्यावहारिक उपाय का पता लगाया है। दयानन्द ने अपने पीछे एक स्पष्ट और अभिव्यक्त राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया छोड़ी जिसने पूरी तरह हिन्दू परम्पराओं और विशेषकर वेदों पर बल दिया।

4.6 ज्योतिबा फुले: एक सामाजिक क्रान्तिकारी

ज्योतिबा फुले (1827-90) की भी दयानन्द सरस्वती की तरह एक सामाजिक संगठन बनाने की इच्छा थी जो व्यक्ति की योग्यताओं और क्षमताओं को व्यक्ति के जन्म के बजाय व्यवसाय और धार्मिक स्तर के आधार पर प्रदर्शित करे। *तृतीय रत्न* (The Third Eye) नाटक जो 1855 में प्रकाशित हुआ था, उनकी विचारधारा का सशक्त प्रदर्शन था। यह नाटक एक चालाक ब्राह्मण द्वारा एक अनपढ़ और अंधविश्वासी दंपति के शोषण किए जाने के बारे में है और बाद में इस दंपति को एक ईसाई मिशनरी द्वारा ज्ञान दिया जाता है। इन नाटक में तीन महत्वपूर्ण बातें स्पष्ट हैं। पहला, ब्राह्मण प्रभुत्व की आलोचना करते हुए उन्होंने हिन्दू धर्म के अत्याचारी स्वरूप के बारे में व्यापक बात कही कि अपने वर्तमान स्वरूप में इसने शूद्रों पर वैचारिक आधिपत्य थोपा और शुद्धिकरण के अनेक अनुष्ठान सुझाए। इसने अछूतों को गरीब बना दिया। दूसरे, लालची ब्राह्मण के चंगुल से दंपति को बचाने वाले ईसाई मिशनरी (प्रचारक) की भूमिका को महत्वपूर्ण मानते हुए, ज्योतिबा फुले ने संभवतया धर्मांतरण को शोषणकारी हिन्दू धर्म से छुटकारा पाने का एकमात्र व्यावहारिक उपाय माना है। फुले स्वयं धर्म परिवर्तन के बारे में बात नहीं करते परन्तु उन्होंने चितपावन, ब्राह्मण विदुषी पंडित रामाबाई के धर्म परिवर्तन का समर्थन करके अपने तर्कों का समर्थन किया है। फुले के लिए ईसाई धर्म न केवल ब्राह्मणवादी उत्पीड़न से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय था बल्कि मोक्ष प्रदान करने वाला धर्म भी

था। तीसरे, इस कहानी पर बल देते हुए, एक अन्य प्रमुख वैचारिक बिन्दु भी था जो हिन्दू समाज में ब्राह्मण प्रभुत्व को बनाए रखने में शिक्षा के महत्व से संबंधित था। उनका मानना था कि शिक्षा विशेषकर अंग्रेजी में साहित्य में शिक्षा तक पहुँच ने ब्राह्मणों को एक सामाजिक समूह के रूप में सामाजिक संसाधन प्रदान किए। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण समकालीन सामाजिक, राजनीतिक और प्रशासनिक क्षेत्रों में छाए रहे। अतः ब्रिटिश शासन की बदली हुई परिस्थितियों में नए कौशल प्राप्त करके ब्राह्मणों ने समय की आवश्यकताओं के अनुसार अपनी भूमिकाओं को फिर से परिभाषित किया और अपने प्रभुत्व को कायम रखा। दूसरे शब्दों में, अंग्रेजी भाषा में शिक्षित होने के कारण ब्राह्मण एक सामाजिक समूह के रूप में उभरे जिसे ब्रिटिश सरकार अपना प्रशासन चलाने में उनकी स्पष्ट भूमिका की उपेक्षा नहीं कर सकी।

फुले ने किस प्रकार की ऐतिहासिक भूमिका निभाई? पूर्व राष्ट्रवादियों की तरह उन्होंने जो मूल संदेश दिया, वह ब्राह्मणवादी शोषण से मुक्त समाज के उनके मॉडल से संबंधित था। उनके लिए ब्रिटिश शासन एक गुप्त वरदान था जिसने ब्राह्मणों के जातीय प्रभुत्व के आधार पर प्रहार किया था। मूलतया विदेशी शासन में इस आयाम के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि फुले ने उपनिवेशवाद के शोषणकारी स्वरूप को कम आंक कर देखा है। यह भी संभव है कि फुले ने उस समाज में जिसमें ब्राह्मणों का प्रभुत्व था शूद्रातिशूद्र (अछूत) को सम्मानजनक स्थान दिलाने के अपने उद्देश्य को उच्च प्राथमिकता दी। फुले स्वयं हिन्दू धर्म ग्रंथों के इतने विरोधी नहीं थे जितने कि वे मौजूदा हिन्दू व्यवस्था बनाए रखने वाले मूल्यों और विचारों के खिलाफ थे। दूसरे शब्दों में, ब्राह्मणवादी विमर्श के प्रति अपने विरोध को विवेकपूर्वक व्यक्त करके, फुले संभवतया हिन्दू धर्म के विरुद्ध कार्रवाई से दूर होने का प्रयास कर रहे थे। उनके विचार में, हिन्दू धर्म का मूल श्रुतियों (वेदों) और स्मृतियों में है और ब्राह्मणों ने अपने प्रभुत्व को कायम रखने के लिए इन्हें तोड़ा-मरोड़ा (विकृत) है। इस प्रकार, यह व्याख्या कि वर्ण व्यवस्था (चार विभिन्न समूहों में समाज का विभाजन) ईश्वर द्वारा दी गई है और उचित है, उनके अनुसार शेष समाज पर ब्राह्मणों के प्रभुत्व को कायम रखने की ब्राह्मणों की 'स्वार्थपूर्ण इच्छा' का परिणाम थी। अतः उन्होंने न केवल हिन्दू व्यवस्था और उसके सैद्धान्तिक साहित्य को भी अस्वीकार किया बल्कि शूद्रों पर ब्राह्मणवादी आधिपत्य को पोषित करने वाले हिन्दू समाज के विभाजनकारों स्वरूप के विरुद्ध अति विश्वास के साथ बहस की। उन्होंने यह तर्क भी प्रस्तुत किया कि समाज का विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग अर्थात् ब्राह्मणों ने धार्मिक पुस्तकों और विकृत प्रथाओं के हवाले से अपने प्रभुत्व को उचित ठहराने का प्रयास किया। उन्होंने हिन्दू धर्ममीमांसा की आलोचना की और अवतार की उनकी इस अवधारणा को चुनौती दी कि जब समाज का पूरी तरह नैतिक पतन हो जाता है तो परिवर्तन के लिए अवतार होता है। अवतार की हिन्दू अवधारणा में फुले ने एक और षडयंत्र पाया जिसे हिन्दू समाज में फूट से बचने के लिए 'अच्छे' और 'बुरे' का धार्मिक रूप से उचित ठहराया गया रूप बताया। विभाजनकारी हिन्दू समाज की जड़ों पर प्रहार करते हुए उन्होंने समान व्यवस्था बनाने के अपने उद्देश्य को आधार मानकर ब्राह्मणवादी देवी देवताओं और विश्वासों के साथ स्वयं कभी समझौता नहीं किया। दूसरे शब्दों में, हिन्दू धर्म के ब्राह्मणवादी प्रदर्शन (exposition) को शूद्रों के दृष्टिकोण से चुनौती देते हुए, फुले ने इतिहास के वैकल्पिक विमर्श और उसके रहस्योद्घाटन पर सफलतापूर्वक एक संवाद (discourse) प्रस्तुत किया।

फुले के लिए साक्षरता (ज्ञान) और विशेषकर अंग्रेजी शिक्षा ब्राह्मणवादी प्रभुत्व को मूलरूप से दूर करने में सर्वाधिक उपयोगी थी। उनका मानना था कि मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को मूल रूप से बदलने में साक्षरता न केवल एक सशक्त माध्यम है, बल्कि इससे लिंग (महिला पुरुष) समानता भी आएगी। शायद फुले पहले राष्ट्रवादी थे जिन्होंने गंभीरतापूर्वक महिला साक्षरता का बीड़ा उठाया और विशेष रूप से अपने प्रयास से 1842 में कन्या विद्यालय स्थापित किया। ऐसा प्रतीत होता है कि इस संबंध में राममोहन राय की तरह उन्होंने आधुनिक समतावादी समाज की भौतिक और संस्थागत आधारशिला

रखने के लिए ब्रिटिश शासन की प्रशंसा की है। हालाँकि फुले पश्चिमी विविधता के उदारवाद से प्रभावित थे, परन्तु लोगों की आवश्यकताओं और माँगों के प्रति वह अंग्रेजों की प्रतिक्रिया से खुश नहीं थे। अन्य पूर्व राष्ट्रवादियों की तरह फुले को विदेशी शासन का समर्थन करने के लिए जिसने प्रेरित किया, वह पूरी तरह से नई सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था की रचना में विदेशी शासन की भूमिका थी जिसकी सहायता से वे शूद्रों पर ब्राह्मणों के मौजूदा वर्चस्व को समाप्त करना चाहते थे।

फुले की प्रतिक्रिया में एक अन्य विशिष्ट आयाम जो उन्हें पूर्व राष्ट्रवादियों से बिल्कुल अलग करता है अपने विचारों को व्यवहार में लागू करना है। *सत्यशोधक समाज* (The Society of the Seekers of the Truth) 1873 में अस्तित्व में आया जिसकी स्थापना इसी उद्देश्य को दिमाग में रखकर की गई थी। समाज न केवल कन्याओं की औपचारिक शिक्षा, विधवा विवाह के समर्थन और नशाखोरी के खिलाफ अभियान में संलग्न था बल्कि इसने हिन्दू समाज के स्वरूप और धर्म ग्रंथों विशेषकर वेदों जिन पर यह आधारित था, जबरदस्त बहस को जन्म दिया। अतः फुले गांधी से एक कदम आगे थे। महात्मा गांधी ने जो सामाजिक आर्थिक मुद्दे उठाए थे, उन पर फुले ने तब चर्चा की थी जबकि ब्रिटिश शासन दमनकारी दिखाई नहीं देता था जबकि यह बाद में दमनकारी हो गया। रूढ़िवादी हिन्दू धर्म जिसने

ढंग से तर्क प्रस्तुत करके, फुले ने धर्म और धार्मिक ग्रंथों के नाम पर सही ठहराई गई मौजूदा ब्राह्मणवादी प्रथाओं और मूल्यों की एक सशक्त सामाजिक समीक्षा प्रस्तुत की।

4.7 राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया: एक आलोचनात्मक मूल्यांकन

पूर्व राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया की अन्य प्रमुख विशेषता यह है कि राष्ट्र की संकल्पना किस ढंग से की गई है। इन राष्ट्रवादियों ने मुस्लिमों का कोई उल्लेख नहीं किया है, अतः प्रतीत होता है कि इन्होंने प्रस्तावित राष्ट्र के संघटकों की स्पष्ट पहचान की है। उपनिषदों अथवा वेदों जैसे हिन्दू परम्परागत ग्रंथों पर विशेष रूप से बल देकर पूर्व राष्ट्रवादियों ने प्रारंभिक चरण में राष्ट्र के लिए प्रेरणा स्रोतों की पहचान की जिसने इस्लाम और इसके समर्थक ग्रंथों के विरोध में वैचारिक आवाज को स्पष्ट रूप से तेज़ किया। अतः राष्ट्र का उनका विचार संकुचित था क्योंकि उनकी राष्ट्र की अवधारणा में मुस्लिम शामिल नहीं थे। गिरती हुई सामंतवादी संस्कृति जिसका समर्थन मुस्लिम शासकों ने किया था इसका पता यूरोपीय आधुनिकता के मूल्यों की बढ़ती हुई स्वीकृति के ऐतिहासिक संदर्भ से चलता है। बंकिम जिसके मुस्लिम शासन पर उग्र विचार थे, उनको छोड़कर किसी भी पूर्व राष्ट्रवादी चिंतक ने इस मुद्दे पर स्पष्ट शब्दों में अपनी राय व्यक्त नहीं की। राष्ट्रवादी अभियान आरंभ करने का उनका उद्देश्य हिन्दुओं को मजबूत करना और नया जीवन देना था जो सहज विभाजक स्वरूप के कारण एक समूह बनाने में असफल रहे। चाहे वह दयानन्द सरस्वती हों अथवा बंकिमचन्द्र, अपनी प्रतिक्रिया को व्यक्त करते समय एक जाति (मूलवंश) के रूप में हिन्दुओं को एक करने का विचार निर्णायक ढंग से किया गया प्रतीत होता है। फारसी साहित्य और इस्लामी संस्कृति में रुचि होने के कारण राममोहन राय के विचार बंकिम से अलग थे। चूँकि फुले, विभाजक हिन्दू समाज के आलोचक थे, उन्होंने सुधारवादी भाषा में तर्क प्रस्तुत किया तथा मुस्लिमों का उल्लेख करना प्रासंगिक नहीं समझा। फुले के विचार में, ब्रिटिश शासन अच्छा था क्योंकि इससे हिन्दू धर्म में मौजूद प्राचीन प्रथाओं पर नियंत्रण करने के लिए बौद्धिक संसाधन प्राप्त हुए।

अब स्पष्ट है कि राष्ट्र की संकल्पना करने में, इन चिंतकों ने उचित ऐतिहासिक भूमिका निभाई। अतः मुस्लिम शासकों और उनके शासन के प्रति उनकी उदासीनता और आलोचनात्मक टिप्पणियों के कारण उन्हें पक्षपाती कहना बिल्कुल गलत होगा। राष्ट्र के लिए ब्रिटिश शासन सर्वाधिक उपयुक्त बताकर उन्होंने दो प्रकार से समर्थन किया: पहला ज्ञान दर्शन जो हिन्दू धर्म और परम्परागत धर्मग्रंथों

जिनपर यह आधारित था, आलोचनात्मक ढंग से आकलन (मूल्यांकन) करने का एक वैकल्पिक वैचारिक दृष्टिकोण प्रदान किया। दूसरे, राष्ट्र के सभ्यता संबंधी संसाधनों पर बल देकर, इन चिंतकों ने एक ऐसे मॉडल की बौद्धिक खोज की भी संकल्पना की जो ऐसे क्षेत्रों के लिए सामाजिक-सांस्कृतिक रूप से सार्थक हो जिनके लिए इसकी संकल्पना की गई थी। इस अर्थ में राष्ट्र के विचार की यद्यपि संकुचित रूप से रचना की गई थी, तथापि प्रतीत होता है कि यह मौजूदा ऐतिहासिक परिस्थितियों का परिणाम था।

अंत में एक बात और, उनकी प्रतिक्रिया बिल्कुल भी राजनीतिक नहीं थी। जबकि दयानन्द सरस्वती आर्य समाज के लिए राजनीति से दूर रहे, राममोहन राय हिन्दू समाज में कुरीतियों (evil practices) को दूर करने में लगे रहे। बंकिम के ऐतिहासिक उपन्यास *आनन्दमठ* में शासक के विरुद्ध *संन्यासी* विद्रोह के लिए अपने समर्थन में राजनीतिक संदेश निहित था। यद्यपि राज्य और राज्य सत्ता (state power) के उनके विचार बहुत अधिक विकसित नहीं हैं परन्तु पूर्व (East) की आध्यात्मिक श्रेष्ठता के लिए उनके तर्क ने पूर्व राष्ट्रवादियों पर उनकी बौद्धिक श्रेष्ठता सिद्ध की है। फुले ने भी राजनीतिक संदर्भों में *सत्यशोधक समाज* की भूमिका नहीं बताई। उनके लिए मुख्य बात बहुसंख्यक *शूद्रों* पर ब्राह्मण प्रभुत्व को चुनौती देना था। इस स्पष्ट प्राथमिकता के आधार पर, फुले ने समाज की भूमिका का उल्लेख किया। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश विरोधी कदम की ओर ध्यान दिलाने के लिए स्पष्ट राजनीतिक भूमिका से बचना उस संदर्भ में शायद रणनीति के तौर पर ठीक था। इसका अर्थ है कि इन राजनीतिक चिंतकों द्वारा शुरू किए गए अभियान को हानि न पहुँचे, इन्होंने एक ऐसा कार्यक्रम स्वीकार कर लिया ताकि सरकारी हस्तक्षेप के बिना इनका वैचारिक अभियान चलता रहे। इन सबके बावजूद जब राष्ट्रवादी अंग्रेजी शासन से भिड़े तब इनके द्वारा दिए गए विचारों ने लोगों को कार्रवाई करने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने न केवल उग्रपंथियों (उग्रवादियों) को प्रेरित किया बल्कि उन्होंने गांधी और उसके अनुयायियों को बौद्धिक संसाधन उपलब्ध कराए। अतः पूर्व राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया राष्ट्रीय चिंतन का एक अभिन्न अंग है जो बिल्कुल भिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों में अलग ढंग से संरचित है तथा यह सब इस बात पर भी निर्भर करता है कि राष्ट्रवादी दृष्टिकोण में क्या महत्वपूर्ण था।

4.8 सारांश

पूर्व राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया चाहे राजा राममोहन राय, बंकिम अथवा फुले से जुड़ी थी, इसका प्रमुख उद्देश्य अपना आधार खो चुके हिन्दू समाज में व्यापक सुधार करना था। हिन्दू समाज के विभाजित स्वरूप को देखते हुए उन्होंने तर्क दिया कि राष्ट्र के लिए इसकी जड़ों पर प्रहार करना अत्यावश्यक है, तभी यह फलफूल सकता है। ब्रिटिश के उदार मूल्यों से आकृष्ट होकर, राममोहन राय ने विदेशी शासन का स्वागत किया और शिक्षा के बुनियादी विचारों से ओत-प्रोत करके इसे हिन्दू समाज को मूलरूप से परिवर्तित करने का एक महत्वपूर्ण कदम बताया। *गीता* में अटूट विश्वास के कारण, बंकिम ने अनुशीलन धर्म में मरणासन्न राष्ट्र को एकजुट करने का एक उपयुक्त उपाय पाया। जबकि दयानन्द सरस्वती ने अपने को बाकियों से अलग रखा और विशेष रूप से वेदों का सहारा लिया। सुधार पर अपने विचार व्यक्त करने में फुले पश्चिमी शिक्षा से प्रभावित हुए। उनके लेखन में अस्पष्ट अवधारणा है और उन्होंने हिन्दू समाज के विभाजक स्वरूप को अंग्रेजों की विजय का कारण बताया है। बंकिम ने भौतिक क्षेत्र में पश्चिम की श्रेष्ठता का समर्थन किया है और इसी को उनकी सफलता कहा है, परन्तु उन्होंने पहचान की भावना (बोध) भरने में हिन्दुओं के आध्यात्मिक संसाधनों पर बल दिया है। दिलचस्प बात यह है कि राममोहन राय, दयानन्द सरस्वती और ज्योतिबा फुले के लेखन में एक ही बात कही गई। अवधारणा पर विशेष बल देते हुए कार्यक्रम मुख्य रूप से छाया रहा तथा एक वैकल्पिक राष्ट्रवादी संवाद विकसित करने के लिए 'हममें' और 'उनमें' के बीच अंतर बाद में भी चलता रहा।

4.9 अभ्यास प्रश्न

- 1) मरणासन्न हिन्दू समाज को पुनर्जीवित करने के लिए पूर्व राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया में बुनियादी तर्क क्या था?
- 2) आप एक ओर राममोहन राय, बंकिम और फुले में और दूसरी ओर दयानन्द सरस्वती में किस प्रकार अंतर करेंगे?
- 3) पूर्व राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया में राष्ट्र की किस प्रकार अवधारणा की गई? इन चिंतकों के अनुसार राष्ट्र के बुनियादी घटक कौन से हैं?
- 4) "राष्ट्र की संकल्पना करते समय एक अंतर ढूंढने वाला कार्यक्रम ने पूर्व राष्ट्रवादियों को नियंत्रित किया है।" राममोहन, बंकिम, दयानंद और फुले के लेखन के संदर्भ में इस कथन को स्पष्ट कीजिए।

